7. औचित्य-सिद्धान्त

औचित्य का स्वरूप

औचित्य के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए आचार्य क्षेमेन्द्र ने कहा है-

**''उचित प्राहुराचार्यः सद शं किल यस्त यत।
उचित च यो भागस्तदौचित्य प्रचक्षते।।''**

जो वस्तु जिसके अनुरूप होती है, उसे उचित कहा जाता है और उस उचित के भाव को ही काव्यतत्त्वाद् औचित्य कहते हैं। यहाँ क्षेमेन्द्र ने औचित्य का व्युत्पत्तिपरक अर्थ करके ही विश्राम पा लिया है, जिससे उसका सम्यक् एवं पूर्ण स्वरूप अध्येता के सामने स्पष्ट नहीं होता। यदि गम्भीरता से विचार किया जाए तो स्पष्ट होता है कि औचित्य काव्य के विभिन्न तत्त्वों तथा उनकी समुचित एवं संतुलित नियोजना से सम्बन्ध रखनेवाली विचारधारा है। समानुपातिकता तथा सामंजस्य इसके प्राण हैं। काव्य के विभिन्न तत्त्वों-अलंकार और अलंकार्य, गुण, और गुणी अवयव एवं अवयवों में उचित सम्बन्ध अथवा सामंजस्य ही औचित्य है। डॉ० बी. राघवन इसे अंग्रेजी भाषा के "Sympath" से मिलता-जुलता मानते हैं। जिनका साहित्यिक आलोचना के संदर्भ में अर्थ होता है- अवयवों की पारस्परिक अनुरूपता। अपने निबन्ध में उन्होंने औचित्य को इस प्रकार परिभाषित किया है-

"*Auchitya* is harmony and in one aspect it is proportion between the whole and parts, between the chief subsidiary, between the again and *angas*. This perfection is all the morals and beauty in art."

तात्पर्य यह है कि औचित्य सामंजस्य है तथा एक द ष्टि से वह अंगी और अंग प्रमुख और सहायक तथा अवयव एवं अवयवी के मध्य समानुपात है। वे रस को इस सामंजस्य या संतुलन का नियामक स्वीकारते हैं तथा कला या काव्य के इस औचित्य का न केवल काव्य-जगत, प्रत्युत व्यवहार-जगत में भी विशेष महत्त्व है। धार्मिक क्षेत्र में पाप और पुण्य, नैतिक क्षेत्र में वैध और अवैध तथा सामाजिक क्षेत्र में सत् और असत् का निर्धारक औचित्य ही है। देशकाल एवं परिस्थिति के अनुसार औचित्यपूर्ण कार्य ही सदाचार कहा जाता है और इसके विपरीत कार्य की ही दुराचार संज्ञा है। सौन्दर्य के क्षेत्र में भी यह औचित्य अपना विशेष महत्त्व रखता है। शरीर के विभिन्न अंगों के निर्दिष्ट स्थान तथा निश्चित आकार होते हैं। अपने स्थान तथा आकार से हीन वस्तुएँ कदापि शोभा को प्राप्त नहीं करतीं। इस विषय में एक पंक्ति प्रसिद्ध है-

''स्थान भ्रष्टा न शोभन्ते दन्ताः केशा नख नराः।''

न केवल शारीरिक अंग, बल्कि वस्त्राभूषण भी उचित स्थान पर विन्यस्त न होकर अपना महत्त्व ही नहीं गँवा देते, बल्कि धारण करनेवाले की मूर्खता व्यक्तकर सभ्य समाज में उसे उपहास्य भी बना देते हैं। जिस राजमुकुट को राजा मस्तक पर धारणकर गौरवान्वित होता है। उसे जड़मति व्यक्ति चरणों में धारणकर अपने बुद्धिराहित्य का ही परिचय देते हैं।

क्षेमेन्द्र ने भी लौकिक उदाहरणों द्वारा औचित्य का महत्त्व प्रतिपादित किया है।

औचित्य के स्वरूप को अधिक स्पष्ट करने के लिए उसका उदाहरण सहित विवेचन अधिक उपयोगी होगा। औचित्य से पूर्व अनौचित्य का उदाहरण ले लेने से यह स्थिति अधिक स्पष्ट हो जाएगी। अतः अलंकारानौचित्य का एक उदाहरण प्रस्तुत है-

उधर टेबुल पर बैठी है
पीलिया के रोगी सी
धँसी-धँसी आँखो वाली
आफिस गर्ल्स-
कोठों पर रात गुजारकर सुबह-सुबह सोई
थकी वेश्याओं की तरह।

अवतरित पंक्तियों में कवि ने आफिस गर्ल्स का चित्र अंकित किया है। कवि ने आफिस गर्ल्स की शारीरिक कृशता, अस्वस्थता, रुग्णता आदि के साथ उसके जीवन में विद्यमान दैन्य, विषाद आदि को स्वर दिया है। उसके जीवन में प्रसन्नता एवं प्रफुल्लता, आशा एवं उल्लास का नितान्त अभाव है। यथार्थपरक चित्र अंकित करने से कवि को सफलता भी मिलती है, लेकिन उपमान के अनौचित्य ने उसे धूलि-धूसरित कर दिया है। जीवन के दैन्य एवं विषाद की अभिव्यक्ति सहानुभूतिपूर्वक की जानी चाहिए थी, कवि को ऐसा उपमान रखना चाहिए था जो दीनता को अधिक साकार कर पाता। इसके विपरीत कवि ने घ णा उत्पन्न करनेवाला अप्रस्तुत रखा है, जिससे दैन्य एवं विषाद की अभिव्यक्ति में कोई सहायता नहीं मिलती। यह अप्रस्तुत अनौचित्यपूर्ण है, जिसने काल के समस्त प्रभाव को धूमिल कर दिया है। क्षेमेन्द्र की द ष्टि में इसे अलंकार-अनौचित्य का उदाहरण कहा जाएगा। जैसे अलंकारौचित्य को स्पष्ट करने के लिए कवि ''प्रसाद'' की दो पंक्तियाँ दर्शनीय है:-

''खुल हुए कचभर, बिखर गये थे बदन पर।
जैसे श्याम सिवार, आसपास हों कमल के।।''

उक्त "सोरठा" प्रसाद जी की प्रारम्भिक रचना है, जिससे सीता जी के सौन्दर्य का चित्र अंकित किया गया है। कार्य-व्यापार में संलग्न रहने से सीताजी के केशपास बिखर गए हैं और मुखमण्डल के चारो ओर फैल गए हैं। मुख के चारों ओर बिखरे हुए केश ऐसे प्रतीत होते हैं मानो कमल और केशराशि के लिए श्याम शैवाल अप्रस्तुत लाया गया है। अतः यह उदाहरण अलंकारौचित्य का सुन्दररूप प्रस्तुत करता है।

औचित्य के स्वरूप के सन्दर्भ में कहा जा चुका है कि वह अवयव और अवयवी अथवा अंग और अंगी का सामंजस्य या सन्तुलन है।

औचित्य का महत्त्व प्रतिपादित करते हुए क्षेमेन्द्र ने कहा है कि काव्य में गुण और अलंकारों की गणना भूषण रूप में की जाती है, किन्तु ये गुण और अलंकार तभी काव्य को सुशोभित करते हैं, जब उचितरूप में विन्यस्त होते हैं। यदि ये उचितरूप में विन्यस्त न हों, तो काव्य के भूषण न होकर दूषण ही हो जाते हैं। ऐसी स्थिति में न गुणो को भूषण कहा जाता है और न अलंकारों को, क्योंकि इन गुणों एवं अलंकारों को अलंकारत्त्व प्रदान करनेवाला तत्व है-औचित्य। यह औचित्य की काव्य का जीवित (प्राण) है।

अलंकारास्त्वलं गुणाः एव गुणाः सदा।
औचित्यं रससिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम्।।

उचितस्थानविन्यासादलंकृतिरलंकृति।
औचित्यादच्युता नित्यं भवन्त्येव गुणा गुणाः।।

भामह ने औचित्य के स्थान पर न्याय, युक्तता आदि पर्यायों का प्रयोग करते हुए उसके विध्यात्मक तथा निषेधात्मक पक्षों पर प्रासंगिक रूप में सम्यक् विचार किया है। गुणों पर विचार करते हुए उन्होंने कहा है कि प्रसाद तथा माधुर्य गुणमयी उक्ति में बहुत समासों का प्रयोग नहीं करना चाहिए, अन्यथा वह काव्य-रसिकों को ग्राहण नहीं होती। इसके विपरीत ओज गुण के लिए समासों का विधान, मन्दार पुष्पों की रज से लिपटे हुए बालों के समान शोभादायक होता है।

''आचार्य दण्डी'' ने दोष-विवेचन में औचित्य को ही आधार स्वीकार किया है। भामह के समान वे भी गुणों को औचित्यमूलक तथा दोषों को अनौचित्यमूलक मानते है। दोष-परिहर में उन्होंने इसका विस्त त विवेचन किया है कि प्रायः सभी दोष कवि-कौशल का स्पर्श पाकर गुण रूप में परिणत हो जाते हैं।

औचित्य शब्द का प्रयोग काव्य में सबसे पहले 'कन्नौज' के ''अधिपति यशोवर्मा'' ने किया। औचित्य-तत्त्व के विकास में ''रुद्रट'' का नाम अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। काव्यशास्त्रीय परम्परा में रुद्रट ही प्रथम व्यक्ति हैं, जिन्होंने दोष को अनौचित्य पर्याय से प्रकट किया है। तात्पर्य यह है कि अनौचित्य का परिहार करने पर वह उचित हो जाता है दोष नहीं रहता। रीति और रजों का सम्बन्ध जोड़ते हुए उन्होंने कहा है कि श्रेय, करुण, भयानक और अद्‌भुत में वैदर्भी और पांचाली रीतियों का विधान उचित है। रौद्र में गोड़ीया और लाटीया का शेष रसों में औचित्य के अनुसार ही रीतियों का प्रयोग करना चाहिए। आशय यह है कि रुद्रट का औचित्य-विवेचन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। अनौचित्य ही दोष है, जिसके दूर होने पर दोषत्व का परिहार हो जाता है।

आचार्य क्षेमेन्द्र से पूर्व औचित्य की मीमांसा करनेवालों में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण काम आचार्य ''आनन्दवर्धन'' का है। उन्होंने ध्वनि की स्थापना करते हुए रस को काव्य की आत्मा माना है और इसके आत्मभूत रस को परम रहस्य औचित्य ही स्वीकारा है। अनौचित्य के अतिरिक्त रसभंग का कोई कारण ही नहीं है-

''अनौचित्याद् ऋते नान्यद्रसभंगस्य कारणम्।
प्रसिद्धौचित्यबन्धुस्तु रसस्योपर्नाषत्परा।।''

आनन्दवर्द्धन ने औचित्य का प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनों प्रकार से विवेचन किया है। उनके विवेचन में अलंकारौचित्य, गुणोचित्य संघटनौचित्य, प्रबन्धौचित्य, रीतित्यौचित्य और रसौचित्य का विशद् निरूपण मिलता हैः-

अलंकारौचित्यः काव्य की आत्मा है 'रस'। काव्य के विविध तत्त्वों-अलंकार, गुण, रीति आदि की उपादेयता इस बात पर निर्भर करती है कि वे रस के कितने पोषक होते हैं। वे रस-पोषक होने पर ग्राह्य है, और रस-शोषक होने पर त्याज्य। अलंकारों का अलंकारत्व रस की पुष्टि में ही निहित है। उनकी मान्यता है कि वे रसाकृष्ट कवि के विशेष प्रयास के बिना ही आविर्भूत हों। उनकी रचना में न कवि को विशेष यत्न करना पड़े और न ही उनमें इतना चाकचिक्य हो कि वे प्रमाता को रसास्वाद से हटाकर अपनी ओर आक ष्ट कर ले यही कारण है कि श्ंगारादि कोमल रसों में यमक को सर्वथा त्याज्य माना है।

गुणौचित्यः आनन्दवर्धन रसाभिव्यंजन में गुणों का विशेष महत्त्व स्वीकारते हैं। उनकी मान्यता है कि ''गुण'' धर्म है और ''रस'' धर्मी। श्ंगार, करुण आदि कोमल रसों के साथ माधुर्य का तथा वीर, भयानक, रोद्र आदि कठोर रसों के साथ ओज का घनिष्ठ सम्बन्ध है। अतः कवि को ऐसी शब्द योजना करनी चाहिए जो रस गुणों के साथ-साथ सामंजस्य रखती हो। उन्होंने स्पष्ट कहा है कि

श ृंगार रस मे रेफ के साथ संयुक्त सकार, शकार और ढकार का प्रयोग प्रक त रस के विरोधी होने से नहीं करना चाहिए, ये ही वर्ण वीरादि रसों में, आवश्यक दीप्ति के प्रकट करने के कारण, रस के उत्पादक होते हैं। अतः वहाँ इतना प्रयोग करना चाहिए।

संघटनौचित्यः विशिष्ट पदयोजना का नाम ही संघटना है। यह तीन प्रकार की होती है-असमासा, मध्यम समासा और दीर्घ समासा। संघटना का गुणों के साथ सम्बन्ध है। वे संघटना को गुणाश्रित रहकर रसों को अभिव्यक्त करनेवाली मानते हैं। संघटना के सन्दर्भ में अन्तरतम तत्त्व रस के अतिरिक्त वक्ता, वाच्य और विषय के औचित्य पर भी द ष्टि रखनी चाहिए। वक्ता से तात्पर्य काव्य या नाट्य के पात्र से है, वाच्य का अर्थ है- प्रतिपाद्य वस्तु तथा विषय से महाकाव्य, नाट्य आदि काव्य-रूप। संघटना के इस चतुर्विध औचित्य-रसौचित्य, वक्त-औचित्य, वाच्यौचित्य तथा विषयौचित्य के विचार का श्रेय आनन्दवर्द्धन की ही है।

प्रबन्धौचित्यः प्रबन्ध-ध्वनि के अन्तर्गत आनन्दवर्धन ने काव्य और नाट्य के इतिव त्त के स्वरूप की विस्त त विवेचना की है। इतिव त्त प्रायः दो प्रकार का हो सकता है- ''प्रख्यात'' और ''कल्पना-प्रसूत''। दोनों ही प्रकार के इतिव त्त में औचित्य का होना परमावश्यक है। आनन्दवर्धन का मत है कि कवि को कथा-संगठन के समय प्रख्यात कथा के भी नीरस भाग को छोड़ देना चाहिए। सर्वथा औचित्यपूर्ण तथा रसाभिव्यंजन में सहायक घटनाओं को ही काव्य में स्थान देना चाहिए, क्योंकि कवि कर्म की सिद्धि रसाभिव्यंजन से होती है, कथा के निर्वाहमात्र से नहीं। प्रबन्धौचित्य का यह सिद्धान्त अत्यन्त मार्मिक है।

रीत्यौचित्यः आनन्दवर्धन ने रीति और व त्ति के औचित्य पर भी विचार किया है। वस्तुतः रीत्यौचित्य रसौचित्य का ही अंग है। इसमें नाट्य की कौशिकी आदि व त्तियाँ तथा काव्य की उपनागरिका आदि रीतियाँ दोनों ही आ जाती हैं इनका अनुचित रूप से उपनिबन्ध भी रसभंग का कारण होता है। व त्ति के विषय में उन्होंने कहा है कि रसादि के अनुकूल शब्दार्थ का उचित व्यवहार ही व त्ति कहा जाता है।

रसौचित्यः रस विवेचन तथा उसके अनौचित्यों का निदर्शन तो ''ध्वन्यालोक'' का प्रतिपाद्य ही है। अंगी रस की निष्पत्ति किस प्रकार करानी चाहिए, अंग रस किन परिस्थितियों में अंगी का पोषक या शोषक हो सकता है, किन-किन रसों में परस्पर विरोध रहता है, और उसका परिहार किस प्रकार किया जा सकता है - रसौचित्य-विषयक इन महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तों की मीमांसा उन्होंने त तीय उद्योत में की है। शब्दार्थ की रसानुकूल औचित्यपूर्ण योजना ही महाकवियों का मुख्य कर्म है। इस प्रकार आनन्दवर्धन ने कई औचित्य-भेदों की विस्त त मीमांसा की है। जिस प्रकार रस अंगी और नानाविध तत्त्व अंग है, उसी प्रकार रसौचित्य ही अन्य सभी का साध्य है।

औचित्य विकास के इतिहास में ''अभिनवगुप्त'' का स्थान नितान्त महत्त्वपूर्ण है। आनन्द के औचित्यविषयक स्थलों की व्याख्या के शायद कुछ ऐसे वाक्य भी दिए हैं जिनसे उनकी औचित्यविषयक धारणा स्पष्ट होती है। उन्होनें बार-बार मुक्त कण्ठ से कहा है कि औचित्य के बिना रसवत्ता ही क्या है, आनन्द का मूल बीज औचित्य ही है।

औचित्य-भेदों के विकास की द ष्टि से ''कुन्तक'' का नाम भी उल्लेखनीय है। उनकी वक्रोक्ति का मूलाधार औचित्य ही है। उन्होनें पद वक्रता का लक्षण देते हुए वक्रोक्ति को औचित्य का पर्याय कहा है-

''तत्र पदस्य तावत् औचित्य बहुविधमेतभिन्ने वक्रभावः''

अर्थात् वक्रभाव का अर्थ पद का औचित्य ही होता है, जिसके अनेक प्रकार होते हैं। कुन्तक ने मार्ग-विवेचन के अन्तर्गत तीनों के दो सामान्य गुणों का विवेचन किया है, ये हैं- ''औचित्य'' और

''सौभाग्य''। औचित्य को परिभाषित करते हुए उन्होंने कहा है कि जिस स्पष्ट वर्णन-प्रकार से स्वभाव के महत्त्व का परिपोषण होता है वह औचित्य है।

औचित्य की प्रमुख स्थापनाएँ

''औचित्य रससिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम्''

इस उद्देश्य के साथ औचित्य को काव्य का जीवित (प्राण) घोषित कर उसे काव्य-सिद्धान्त के रूप में स्थापित करने का श्रेय आचार्य क्षेमेन्द्र को है। इस सिद्धान्त की स्थापना में प्रबल प्रतिभा की अपेक्षा अनुकूल परिस्थितियों का योगदान ही अधिक रहा है। क्षेमेन्द्र से पूर्व औचित्य के प्रमुख सूत्र आचार्य भरत, आनन्दवर्द्धन और अभिनवगुप्त में परिव्याप्त थे। इन तीनों ही आचार्यों का सुविवेचित ज्ञान उन्हें गुरु-परम्परा से प्राप्त हुआ। ''नाट्य-शास्त्र'' के प्रसिद्ध टीकाकार ''अभिनव भारती'' के लेखक तथा ''ध्वन्यालोक'' के एक मात्र मौलिक भाष्यकार आचार्य अभिनवगुप्त जिन्हें काव्यशास्त्रीय परम्परा मात्र दो टीकाओं के कारण सिद्धान्त-संस्थापक आचार्यों से कम महत्त्व नहीं देती, क्षेमेन्द्र के साहित्य गुरु रहे हैं। अतः भरत, आनन्द और अभिनव की ज्ञानराशि का आलोड़न-विलोड़न उन्होंने अपने पूर्व परिपक्व काल में ही कर लिया होगा। अभिनवगुप्त ने स्पष्ट कहा है कि रसविषयक औचित्य का समग्र विवेचन भरत में ही उपलब्ध हो जाता है। ऐसी स्थिति में क्षेमेन्द्र से भरत, आनन्द और अभिनव की क तियों का प्रगाढ़ अध्ययन नितान्त अपेक्षित है।

क्षेमेन्द्र के विचारों का मूल भरत में निहित है। भरत अभिनव के अन्तर्गत वेश पर विचार करते हुए कहते हैं कि पात्र जिस देश का निवासी है, उसके अनुरूप ही वेश-भूषा शोभाजनक होती है, देश के प्रतिकूल वेश-भूषा उसी प्रकार मानव को हास्यास्पद बना देती है। जैसे कण्ठ में मेखला धारण करना मानव को उपहास्य बना देता है।

**''अदेशजो हि वेषस्तु न शोभां जनयिष्यति।
मेखलोरसि बन्धे च हास्यायेवोपजायते।।''**

आचार्य क्षेमेन्द्र ने औचित्य की भूमिका बनाते समय इसके अनुरूप ही कारिका दी है, जो भरत के उक्त श्लोक का भाष्य ही प्रतीत होती है। क्षेमेन्द्र की प्रस्तुत कारिका इस प्रकार है-

**''कण्ठे मेखलया नितम्ब फलके तारेण हारेण वा,
पाणौ नूपुरबन्धनेन चरणे केयूर पाशेन वा।
शौर्येण प्रणते रिपौ करुणया नायान्ति के हास्यता,
मौचित्येना बिना रुचिं प्रतनुते नालंक तिर्नो गुणाः।।**

अर्थात् कण्ठ में मेखला, नितम्ब पर दीप्तिमय हार, चरणों में केयूर धारण करने तथा शरणागत व्यक्ति पर शौर्य एवं शत्रु पर करुणा दिखाने से कौन उपहास का पात्र नहीं हो जाता? सत्य ही है कि औचित्य के बिना न तो अलंकार शोभा प्रदान करते हैं और न गुण ही आक ष्ट कर सकते हैं। स्पष्ट है कि इस कारिका का पल्लवन भरत के उक्त श्लोक के आधार पर ही हुआ है। क्षेमेन्द्र ने औचित्य का स्वरूप स्पष्ट करते हुए यह भी कहा है कि जो वस्तु जिसके अनुरूप होती है, वह उचित कहलाता है, और उसी के भाव को आचार्यों ने औचित्य की संज्ञा दी हैः-

**''उचित प्राहुराचार्याः सद शं किल यस्य यत।
उचितस्य च यो भावस्तदौचित्यं प्रचक्षते।।''**

औचित्य के सम्पूर्ण सिद्धान्त के मूल में जो भावधारा है, उसका बीज भी आनन्दवर्धन में निहित है। क्षेमेन्द्र का सम्पूर्ण सिद्धान्त आनन्दवर्धन की इस कारिका का प्रतिभापूर्ण भाष्य ही है, कि अनौचित्य के अतिरिक्त रस भंग का कोई कारण ही नहीं है, और औचित्य ही रस का परम-रहस्य है।

औचित्य के भेद

क्षेमेन्द्र ने औचित्य के अठाइस भेदों का विश्लेषण किया है। यहाँ पर ध्यान रखना चाहिए कि भेद परस्पर निरपेक्ष या स्वतन्त्ररूप में प्रयुक्त होकर सूक्ति को महान् नहीं बना सकते। काव्य तभी महान होगा, जब ये समन्वितरूप में प्रयुक्त हों। तात्पर्य यह है कि औचित्य की स्थिति समष्टिगत है, व्यष्टिगत नहीं। क्षेमेन्द्र ने औचित्य के निम्न भेदों की गणना की है।

1. पद, 2. वाक्य, 3. प्रबन्धार्थ, 4. गुण, 5. अलंकार, 6. रस, 7. क्रिया, 8. कारक, 9. लिंग, 10. वचन, 11. विशेषण, 12. उपसर्ग, 13. निपात, 14. काल, 15. देश, 16. कुल, 17. व्रत, 18. तत्त्व, 19. सत्त्व, 20. अभिप्राय, 21. स्वभाव, 22. सारसंग्रह, 23. प्रतिभा, 24. अवस्था, 25. विचार, 26. नाम, 27. आशीर्वाद, 28. अन्य काव्यांग। आचार्य क्षेमेन्द्र द्वारा गिनाए गए उक्त भेदों को पाँच वर्गों में विभक्त किया जा सकता है- प्रथम वर्ग मीमांसा से सम्बद्ध है, जिसके अन्तर्गत पद, वाक्य और प्रबन्धार्थ ये तीन भेद रखे जा सकते हैं। द्वितीय वर्ग अलंकारशास्त्र से सम्बद्ध है, जिसके अन्तर्गत गुण, रस, अलंकार, प्रतिभा और अन्य काव्यांग ये पाँच भेद रखे जा सकते हैं। त तीय वर्ग व्याकरण शास्त्र से सम्बद्ध है, जिसके अन्तर्गत क्रिया, कारक, लिंग, वचन, विशेषण, उपसर्ग, निपात और काल ये आठ भेद रखे जा सकते हैं। चतुर्थ वर्ग का सम्बन्ध लोकतन्त्र से है, जिसके अन्तर्गत देश, कुल, व्रत, स्वभाव और विचार ये पाँच भेद रखे जा सकते है। पंचम वर्ग क्षेमेन्द्र की मौलिक प्रतिभा की देन है। इस वर्ग में तत्त्व, सत्त्व, अभिप्राय, सारसंग्रह, अवस्था नाम और आशीर्वाद को रखा जा सकता है, इनका सम्बन्ध कवि से है।

औचित्य के महत्त्व का उद्घाटन करने के लिए उसके कुछ प्रमुख भेदों का विश्लेषण उपयुक्त होगा।

पदौचित्यः जैसे चन्द्रमुखी रमणी के ललाट पर कस्तूरी विरचित श्याम तिलक और श्यामवर्ण वाली सुन्दरी के मस्तक पर चन्दन का तिलक उसके सौन्दर्य को द्विगुणित कर देता है, उसी प्रकार एक भी समुचित पद सूक्ति की शोभा को बढ़ाता हुआ काव्य में अपूर्व मधुरिका का संचार कर देता है। विद्यापति की निम्न पंक्तियों से यह स्पष्ट हो जाएगा-

''परभूत के डर पायस लैकर
वायसा निकट पुकारै।''

विरहणी नायिका कोकिला की मधुर वाणी से आहत होती है, अतः उससे बचने के लिए कौओं को खीर लेकर बुलाती है। चूँकि कोकिला कौए से पोषित होती है, इसलिए उसके सामने मुख नहीं खोलेगी-यह व्यंग्यार्थ है। यहाँ कोकिला के लिए ''परमभूत'' पद कितना उपयुक्त है-यह सहृदयैकगम्य हैं। सम्पूर्ण व्यंग्यार्थ इस पद पर निर्भर है।

अलंकारौचित्यः अर्थगत औचित्य से परिपूर्ण अलंकार-योजना से उक्ति उसी प्रकार सुशोभित हो जाती हैं जैसे उत्तुंग पयोधर पर स्थित तरल हार से म गलोचना रमणी। अलंकार की शोभा तभी है, जब वह पूर्णरूप से वर्ण्य के अनुरूप हो। यदि वह उसकी स्पष्टता एवं सौन्दर्य व द्धि में सहायक नहीं होता तो उसका कोई उपयोग नहीं होता। अलंकार के औचित्य और अनौचित्य दोनों के उदाहरण औचित्य के स्वरूप-विश्लेषण में दिए जा चुके हैं। उनकी पुनराव त्ति उचित नहीं है।

लिंगौचित्यः उपयुक्त लिंग के प्रयोग से काव्य में अपूर्व चमत्कार का संचार होता है। तथा काव्यार्थ भी द्विगुणित हो जाता है। नागार्जुन की दो पंक्तियाँ प्रस्तुत हैः-

''प्रौढ़ वनस्पति मान चुके हैं हार,
वेलें उनसे लिपट गयीं निर्द्वन्द्व।''

इन पंक्तियों मे स्त्रीलिंग वनस्पति शब्द का पुल्लिंग में प्रयोग किया गया है जिसमें वनस्पति एवं बेलें से नायक-नायिका परक अर्थ की अभिव्यक्ति की जा सके।

विशेषणौचित्यः विशेषण का सार्थक एवं रम्य प्रयोग काव्य में गुण एवं सौन्दर्य की अभिव द्धि करता है। रससिद्ध कवि पूर्ण वाक्य के स्थान पर लघुकाय विशेषणों से प्रस्तुत अर्थ को सौन्दर्यसम्पन्न बना देता है और विशेषणों की असफलता काव्य-गरिमा को खो देती है। विशेषण अनौचित्य का एक उदाहरण दर्शनीय है।

''यह फूलों लदी निगन्ध किंशुक डार,
झरती क्यों नहीं।''

किंशुक का निर्गन्धत्व लोक-प्रसिद्ध है, अतः किशुंक से पूर्व निर्गन्ध विशेषण निरर्थक है, इससे काव्योक्ति की गरिमा को ही आघात पहुँचा है।

उपसर्गौचित्यः उचित उपसर्गो के प्रयोग से भी काव्य का प्रस्तुतार्थ अधिक रमणीयता को प्राप्त कर जाता है। लघुकाय उपसर्गो से प्रस्तुतार्थ को न्यूनाधिक रम्य बनाकर कवि क त कार्य होता है। यथा-

''शुभ्रवसना वधू आगे चली, पीछे मैं विमोहित-सा।''

यहाँ कवि जिस विशेष मोहन भाव की अभिव्यक्ति करना चाहता है वह ''वि'' उपसर्ग के अभाव में सम्भव नहीं।

गुणौचित्यः माधुर्यादि गुण काव्य में तभी सुशोभित होते हैं, जब वे प्रस्तुतार्थ के अनुरूप होते हैं। श ंगार, करुण आदि में माधुर्य, वीर, रौद्र आदि में ओज गुण का सन्निवेश अधिक ह्रदयाह्लादक होता है। इसी भाव को ''क्षेमेन्द्र'' ने इस प्रकार व्यक्त किया है। प्रस्तुतार्थ के अनुरूप ही माधुर्यादि गुण काव्य में उसी प्रकार भव्य एवं आनन्ददायक होते हैं, जैसे कान्ता संगम के समय नवोदित चन्द्र।

प्रबन्धार्थ-औचित्यः कभी-कभी महाकवि अपनी प्रतिभा द्वारा उत्प्रेक्षित अनुरूप अर्थ से समग्र प्रबन्ध को रससिक्त कर देते हैं तथा कुछ ऐसे तर्क वहाँ प्रस्तुत करते हैं, जिनसे उक्त स्थल तथा समग्र प्रबन्ध में कार्य-कारण सम्बन्ध बैठ जाता है। यह सौन्दर्यतत्त्व भी 'क्षेमेन्द्र' की ही प्रसूति है।

सूरदास सगुण एवं साकार ईश्वर के माननेवाले हैं। बालकृष्ण का लीला-गान ही इनके 'सूरसागर' का विषय है। जब ईश्वर के सगुण एवं निर्गुण दो रूप होते हैं तो सूरदास सगुण को ही क्यों मानते हैं-इसका औचित्य उन्होंने अपने निम्न छन्द में प्रकट किया है, जिससे सारा काव्य सरस-सा प्रतीत होने लगता है।

''रूप-रेख-गुण-जाति-जुगुति-बिनु निरालम्ब कित धावै।
सब विधि अगम विचारहिं तातैं सूर सगुन लीला पद गावै।''

इस छन्द में सूरदास जी ने बतलाया है कि निर्गुण के न रूप है, न आकार, न गुण और न जाति तब उसके पीछे मन कहाँ तक दौड़ लगावे? सगुण का लीला-गान सरल है अतः उसका अपनाना ही उचित है।

सारसंग्रहौचित्यः इस औचित्य भेद में कवि किसी भेद, शास्त्र आदि के सार को संक्षेप में व्यक्त कर देता है। यदि वह वक्तव्य सही दिशा का निर्देशक होता है तो 'सारसंग्रहौचित्य' नाम दिया जाता है। यह सौन्दर्य तत्त्व भी क्षेमेन्द्र की प्रतिभा की मधुर देन है। गोस्वामी जी का एक उदाहरण दर्शनीय है -

''वेद पुरान सन्त मत एहू।
सकल सुक त फल राम सनेहू।।''

वेद पुराण तथा सभी संतो का यही मत है कि सम्पूर्ण पुण्यों का फल राम के चरणों में अनुराग ही है।

रसौचित्यः रस काव्य का अन्तरतम तत्त्व है यह प्रायः सर्वमान्य तथ्य है, लेकिन यह तभी हृदयावर्जक होता है, जब औचित्य से समन्वित होता है। औचित्य के अभाव में वह न केवल अपना महत्त्व खो देता है, अपितु काव्यगरिमा को भी आघात पहुँचाता है। ''भस्मांकुर'' खण्डकाव्य में 'नागार्जुन' ने भगवान शंकर के हृदय में पार्वती के प्रति अभिलाषा जाग्रत करने के लिए वसंत का मानवीकरण के रूप में चित्रण किया है।

स्वाभावौचित्यः स्वभाव-कथन भी काव्य में एक अपूर्व आनन्द ला देता है। यह अपना प्रभाव तभी दिखाता है, जब औचित्यपूर्ण होता है। कैकेयी का कोपभवन में जाना सुनकर राजा दशरथ की अवस्था दर्शनीय है, जिसके पुरुष के स्वभाव पर प्रकाश पड़ता है-

''कोपभवन सुनि सकुचेउ राऊ। भय बस अगहुड़ परइ न पाऊ।।
सुरपति बसहिं बाहुबल जाके। नरपति सकल रहहि ताके।।
सो सुनि तिय रिस गयउ सुखाई। देखहु काम प्रताप बड़ाई।।
सूल कुलिस असि अंगवनि होरे। ते रतिनाथ सुमन सर मारे।।"

यहाँ पुरुष का स्वभाव-चित्रण है कि श्रेष्ठ वीर भी अपनी पत्नी की अप्रसन्नता से डरता है-यह कामदेव की महिमा है। स्वर्गीय रामधारी सिंह दिनकर ने ''उर्वशी'' में भी इस प्रसंग को उठाया है।